पाणिनीय-शिक्षा

(विस्तृत शोधपूर्ण हिन्दी व्याख्या)

सम्पादक एवं हिन्दी व्याख्याकार
विद्यासागर डॉ० दामोदर महतो

पाणिनीय-शिक्षा

(विस्तृत शोधपूर्ण हिन्दी व्याख्या)

सम्पादक एवं हिन्दी व्याख्याकार

विद्यासागर डॉ० दामोदर महतो

एम० ए० (संस्कृत, उर्दू, फारसी), पी-एच० डी०, वेदनैरुक्ताचार्य

(लब्धस्वर्णपदक, सं० सं० वि० वि०, वाराणसी); रीडर, संस्कृत विभाग, भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली, मुम्बई, चेन्नई, कोलकाता, बंगलौर,

वाराणसी, पुणे, पटना

प्रथम संस्करण: १९९०
पुनर्मुद्रण: दिल्ली, १९९९, २००२

मोतीलाल बनारसीदास
४१ यू०ए० बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली ११० ००७
८ महालक्ष्मी चैम्बर, २२ भुलाभाई देसाई रोड, मुम्बई ४०० ०२६
२३६ नाइंथ मेन III ब्लाक, जयनगर, बंगलौर ५६० ०११
सनाज प्लाजा, १३०२ बाजीराव रोड, पुणे ४११ ००२
१२० रायपेट्टा हाई रोड, मैलापुर, चेन्नई ६०० ००४
८ केमेक स्ट्रीट, कोलकाता ७०० ०१७
अशोक राजपथ, पटना ८०० ००४
चौक, वाराणसी २२१ ००१

मूल्य : रु० ३०

नरेन्द्रप्रकाश जैन, मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड, दिल्ली ११० ००७
द्वारा प्रकाशित तथा जैनेन्द्रप्रकाश जैन, श्री जैनेन्द्र प्रेस,
ए-४५ नारायणा, फेज-१, नई दिल्ली ११० ०२८ द्वारा मुद्रित

पूजनीया

माँ

को

सादर सर्मपित ।

—दामोदर

भूमिका

वेदाङ्गों में 'शिक्षा' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। श्री मनमोहन घोष ने 'शिक्षा' का रचना काल प्राय: १००० से ६०० ई० पूर्व माना है। डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा ने शिक्षा ग्रन्थों की रचना ८०० ई० पूर्व से ५०० ई० पूर्व के मध्य मानी है। भाषा-वैज्ञानिकों की दृष्टि में शिक्षा का उद्देश्य सामान्य ध्वनि-विज्ञान माना जा सकता है। शिक्षा ने सभी प्राप्त ध्वनियों का विश्लेषण किया है।

कुछ लोग 'पाणिनीय शिक्षा' को पाणिनि के अनुज 'पिङ्गल' की रचना मानते हैं। डब्ल्यू० एस० एलेन ने कहा है कि—"वर्तमान पाणिनि शिक्षा न तो सबसे प्राचीन है न पाणिनि-रचित। इस ग्रन्थ के उपक्रम में **"अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि पाणिनीयं मतं यथा"** की उक्ति तथा उपसंहार में **"येनाक्षर-समाम्नायम्"** इस श्लोक से पाणिनि की प्रशस्ति गाथा भी यही प्रमाणित कर रही है कि यह प्राप्त शिक्षा पाणिनिकृत मूल ग्रन्थ नहीं है"—[1] (The most important of them the so called Panini Siksha is sometimes claimed as the original Siksha and in Consequence put back to a very early date. But this as also its attribution to Panini is highly doubtful."

शिक्षा का प्रथम सोपान वर्णशिक्षा है। ऋक्-प्रातिशाख्य को भी वर्णशिक्षा नाम से पुकारा गया है :—

"निन्दन्त्यकृत्स्नेति च वर्णशिक्षाम्।"

'शिक्षा' का अर्थ सायण ने ऋग्वेदभाष्यभूमिका में किया है—

"वर्णस्वराद्युच्चारणप्रकारो यत्रोपदिश्यते सा शिक्षा।"

अर्थात् जिसमें वर्ण, स्वर आदि उच्चारण प्रकारों का उपदेश हो, उसे 'शिक्षा' कहते हैं।

---

१. 'भाषाविज्ञान की भारतीय परम्परा और पाणिनि'—पृ० ६४–६५

डॉ० रामदेव त्रिपाठी ने सुझाया है कि पाणिनि-शिक्षा का सर्वोत्तम संस्करण डॉ० मनमोहन घोष का ही माना जाता है। उनके अनुसार मनमोहन घोष ने पाणिनि-शिक्षा के छह रूप बताये हैं;

१. संस्कृत मूल १८ श्लोकों वाला,

२. अग्निपुराणान्तर्गत २१ श्लोक वाला,

३. पञ्जिकाभाष्य सहित २३ श्लोकवाला,

४. शिक्षाप्रकाश व्याख्यासहित ३२ श्लोकवाला,

५. यजुःशाखीय ३५ श्लोकवाला तथा

६. ऋक्शाखीय ६० श्लोकवाला।

जबकि स्वामी दयानन्द ने "वेदाङ्ग प्रकाश" भाग १ के रूप में 'पाणिनीय शिक्षा' का एक भिन्न ही संस्करण निकाला है—

"वर्णोच्चारणशिक्षा" यह श्लोकबद्ध नहीं, सूत्रबद्ध है। इसमें ८६ सूत्र हैं, जिनमें दो-चार श्लोक भी हैं।

शिक्षा शास्त्रों में 'पाणिनीय शिक्षा' ही प्रामाणिकतम तथा प्राचीनतम है, शेष बहुत बाद की हैं। "क्रिटिकल स्टडीज' में डॉ० वर्मा ने ६५ शिक्षा ग्रन्थों को स्वयं देखने की बात कही है लेकिन उन्होंने उनका नाम नहीं गिनाया। 'शिक्षासंग्रह' में ३२ शिक्षाग्रंथों का संग्रह है जिनमें २८ के नाम उपलब्ध हैं,

१. वासिष्ठी—ऋग्-यजुष् का विभाग है। कुल यजुष् २८८३ हैं।

२. कात्यायनी—उदात्तादि स्वरों का विचार।

३. पाराशरी—१६० श्लोक हैं, पर वर्ण-विचार नहीं है।

४. माण्डव्य शिक्षा—१३० श्लोक हैं।

५. लघ्वमोघानन्दिनी—१७ श्लोक हैं।

६. माध्यन्दिन शिक्षा—४० श्लोक

७. लघुमाध्यन्दिनी शिक्षा—२८ श्लोक; ष का ख तथा य का ज उच्चारण किया गया है।

८. अमरेशी वर्णरत्नप्रदीपिका—वर्ण विचार है। स्वर विचार है। सन्धि विचार है तथा २२६ श्लोक हैं।

९. केशवी सूत्रात्मिका—९ सूत्र
१०. केशवकृता पद्यात्मिका—२१ श्लोक
११. मल्लशर्मकृता—६५ श्लोक
१२. स्वरांकुश शिक्षा—२५ श्लोक
१३. षोडशश्लोकी रामकृष्णविरचिता—१६ श्लोकी।
१४. कात्यायनप्रणीत स्वरभक्तिलक्षणपरिशिष्टशिक्षा—४२ श्लोक
१५. अवसाननिर्णयशिक्षा
१६. क्रमसन्धान शिक्षा
१७. गलदृक शिक्षा—ऋचाओं के लुप्त होने का संकेत।
१८. मनःस्वार शिक्षा।
१९. प्रातिशाख्य प्रदीप—स्वर/सन्धि/जटा, घन पाठ।
२०. यजुर्विधान शिक्षा—६ अध्याय।
२१. स्वराष्टक शिक्षा—वर्ग/स्वर/सन्धि/प्रत्याहार सूत्र
२२. क्रमकारिका शिक्षा—९२ श्लोक।
२३. पाणिनीया शिक्षा—६० श्लोक
२४. शिक्षाप्रकाश—पा० शि० की ही प्रकाश टीका।
२५. नारदी शिक्षा—३१ श्लोक
२६. सामवेदीया गौतमी शिक्षा—संयोगों का विचार है।
इनमें ०२ से ०७ व्यञ्जनों तक के संयोग का विचार है।
२७. सामवेदीया लोमशी।
२८. अथर्ववेदीया माण्डूकी आदि।

युधिष्ठर मीमांसक ने अपने "संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास" में शिक्षा ग्रंथों की चर्चा नहीं की है।

• डब्ल्यू० एस० एलेन ने कहा कि "स्वीट ने भाषाविज्ञान को वहाँ से पकड़ा है जहाँ भारतीय भाषाविज्ञानियों ने इसे पहुँचा छोड़ा था।" (Generally, We may say that Henry Sweet takes over where the Indian

treatises leave off those in some matters even Sweet Could have learnt From them .....)

एलेन ने तो यह भी स्वीकारा है कि "प्राचीन भाषाविज्ञानियों को मध्ययुग या उन्नीसवीं सदी के लोगों ने उतना नहीं समझा जितना बीसवीं सदी के आचार्यों ने।" उन्होंने यह भी स्वीकारा कि "इन प्राचीन भारतीय भाषावैज्ञानिकों का कोई व्याख्याता उन-सा प्रतिभाशाली सूक्ष्मदर्शी नहीं हो सका, एकमात्र अपवाद उव्वट हैं; जिनकी 'ऋक्-प्रातिशाख्य' या "वाजसनेय-प्रातिशाख्य" की व्याख्या बुद्धिमत्तापूर्ण तथा अनेक ध्वनिविज्ञान सम्बन्धी प्रश्नों पर प्रकाश डालने वाली है।"

(The one outstanding exception to the general mediocerity of the Indian Commentators is Uvata whose interpretations of the R. P. and V. P. reveal an entightened and enlightening upproach to a variety of phonetic topics.)

यह भी स्पष्ट है कि भारतवर्ष में व्याकरणलेखकों ने ध्वनिविज्ञान के आचार्यों की पुस्तकों से बहुत लाभ उठाया है जब कि यह सुविधा यूरोपीयों को नहीं मिली। भगवान् पतञ्जलि ने स्वयं स्वीकारा है कि—

"किसी भी भाषा की ध्वनियों का पर्याप्त अध्ययन हो जाने के बाद ही उसके व्याकरण का अध्ययन होता है।"

"व्याकरणं नामेयमुत्तरा विद्या। योऽसौ छन्दःशास्त्रेष्वभिविनीत उपलभ्याधिगन्तुमुत्सहते।" यहाँ 'छन्दःशास्त्रेषु' का अर्थ उद्योत ने "प्रातिशाख्यशिक्षादिषु" लिया है अर्थात् प्रातिशाख्य-शिक्षा आदि ध्वनिविज्ञान पढ़कर ही व्याकरण पढ़ा जाता है। सचमुच शिक्षा वेद की नाक है—

—"शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य।" और व्याकरण को मुख कहा गया—"मुखं व्याकरणं स्मृतम्।" नाक रहित होना (नाक कटना) मुहावरा सर्वविदित है। यदि नाक रूपी शिक्षा कट गयी तो वेद की सारी मर्यादा, सारा अर्थ अनर्थ में विपरिणत हो जायेगा क्योंकि वर्णों का सम्यक् ज्ञान नहीं होने पर

मन्त्रों का पाठ दुरुस्त नहीं कर सकेंगे और वर्ण-दोष या स्वर-दोष होने पर वही वाणी वज्र होकर पाठक का सर्वनाश कर देती है—

"मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा
मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति
यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥"

वर्णों की संख्या

शिक्षा को वर्णोच्चारण शिक्षा कहा गया है। शिक्षा में ध्वनि का सर्वाधिक विस्तृत विश्लेषण किया गया है। संस्कृत-प्राकृत आदि में प्रयुक्त कुल वर्णों की संख्या ६३ या ६४ है।

"त्रिषष्टिः चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः।
प्राकृते-संस्कृते चापि स्वयं प्रोक्ताः स्वयम्भुना ॥"

यही मत शंकर का है—

"शंकरः शांकरीं प्रादाद् दाक्षीपुत्राय धीमते।
वाङ्मयेभ्यः समाहृत्य देवीं वाचमिति स्थितिः ॥"

इससे पता चलता है कि शिक्षा में आदि गुरु शंकर ही हैं जिन्होंने अपने चतुर्दश सूत्रों द्वारा पाणिनि को इन ध्वनियों का रहस्य बताया। फिर पाणिनि ने उसके आधार पर यह शिक्षा बनायी और शेष सारी शिक्षाएँ इसके आधार पर बनीं।

६३ या ६४ वर्ण कौन-कौन-से हैं। इसपर आचार्य ने गिनाया है—**'स्वराः विंशतिरेकः'** अर्थात् स्वर इक्कीस हैं। **'स्पर्शानां पञ्चविंशतिः'** अर्थात् स्पर्श वर्ण (व्यञ्जन) पच्चीस हैं। **'यादयश्च स्मृता ह्यष्टौ'**—यादि आठ कहे गये हैं। **'चत्वारश्च यमाः स्मृताः'**—यम चार कहे गये हैं।

(१) स्वर २१ हैं—

ह्रस्व–अ	ह्रस्व–इ	ह्रस्व–उ	ह्रस्व–ऋ
दीर्घ–आ	दीर्घ–ई	दीर्घ–ऊ	दीर्घ–ॠ
प्लुत–अ३	प्लुत–इ३	प्लुत–उ३	प्लुत–ऋ३
३ +	३ +	३ +	३ = १२

१२ + १ (ह्रस्व ऌ) = १३ ।

दीर्घ–ए	दीर्घ–ओ	दीर्घ–ऐ	दीर्घ–औ
प्लुत–ए३	प्लुत–ओ३	प्लुत–ऐ३	प्लुत–औ३
२ +	२ +	२ +	२ = ०८

१३ + ०८ = २१

(२) स्पर्श (व्यञ्जन) वर्ण २५ हैं—स्पर्श वर्ण व्यञ्जन वर्ण कहलाते हैं—"कादयो मावसानाः स्पर्शाः ।"

क—ख—ग—घ—ङ
च—छ—ज—झ—ञ
ट—ठ—ड—ढ—ण } ५ × ५ = २५ वर्ण
त—थ—द—ध—न
प—फ—ब—भ—म

(३) यादि = यणोऽन्तःस्थाः + शल उष्माणः अर्थात् य र ल व + श ष स ह = ०८ ।

(४) यम—४ हैं । यम के सम्बन्ध में मतभेद है । औदव्रजि ने पंजिका-भाष्य में कहा है—

"अनन्त्याऽन्त्यसंयोगे मध्ये यमो पूर्वगुणः ।"

"नारदीय शिक्षा" का उद्धरण भी त्रिपाठी जी ने प्रस्तुत किया है जो औदव्रजि के सदृश हो है—

"अनन्त्यश्च भवेत् पूर्वो ह्यन्त्यश्च परतो यदि ।
तत्र मध्ये यमस्तिष्ठेत् सवर्णः पूर्ववर्णयोः ॥"

भट्टोजिदीक्षित ने कहा है—

"वर्गेष्वाद्यानां चतुर्णां पञ्चमे परे मध्ये यमो नाम पूर्वसदृशो वर्णः प्रातिशाख्येषु प्रसिद्धः।"

अर्थात् जहाँ पहले स्पर्शों के पाँचों वर्णों में आदि चार वर्णों में से कोई एक तथा पीछे कोई पाँचवाँ वर्ण आ जाय वहाँ उन दोनों के संयोग के बीच एक पूर्ववर्ती वर्ण के गुण वाला तीसरा वर्ण बीच में उच्चरित होता है।

श्री नारायण मिश्र जी ने कहा है—

"प्रत्येक व्यञ्जन वर्ग के प्रथम चार व्यञ्जनों में से किसी एक के उत्तर यदि व्यञ्जन वर्ग का पञ्चम व्यञ्जन आवे तो पूर्ववर्ती तथा परवर्ती व्यञ्जनों के मध्य पूर्ववर्ती व्यञ्जन के सदृश एक अधिक अनुनासिक व्यञ्जन आ जाता है। इसी मध्यगत व्यञ्जन को 'यम' कहते हैं। यद्यपि इनकी संख्या २० (बीस) है फिर भी सब वर्गों के प्रथम व्यञ्जनों को एक तथा द्वितीय आदि को भी एक-एक मानकर चार 'यम' कहे गये हैं।

उव्वट ने कहा है—कं खं गं घं इत्यादयो यमाः अर्थात् कं खं गं घं इत्यादि 'यम' हैं। ऋग्वेद प्रातिशाख्य में कहा गया है—

"स्पर्शाः यमाननुनासिकाः स्वान्परेषु स्पर्शेष्वनुनासिकेषु।"

अर्थात् अनुनासिक स्पर्श अपने यमों को प्राप्त होते हैं यदि बाद में अनुनासिक स्पर्श हो। इसे उव्वट ने कहा—

"अनुनासिकाः स्पर्शाः स्वान्यमान् आपद्यन्ते अनुनासिकेषु स्पर्शेषु परेषु"

अर्थात् वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ वर्ण अपने-अपने 'यम' हो जाते हैं, यदि बाद में वर्गों के पञ्चम वर्ण हों। अर्थात् अनुनासिक स्पर्श वर्ण के बाद में अनुनासिक स्पर्श हो तो उन दोनों के मध्य में अनुनासिक स्पर्श से अतिरिक्त एक नासिक्य वर्ण का आगम हो जाता है जिसे 'यम' कहते हैं; जैसे— 'पलिक्नीः' में यम ककार के सदृश है, चख्नथुः में यम खकार के सदृश है।

५. अनुस्वार— ः है।

६. विसर्ग—१ है।

७. जिह्वामूलीय और उपध्मानीय—२ है।
⌣क ⌣फ ये दोनों पराश्रित हैं।

८. दुःस्पृष्ट—१ है।

९. प्लुत ऌकार—१ है।

इस तरह २१ + २५ + ८ + ४ + १ + १ + २ + १ + १ = ६४

जहाँ प्लुत ऌकार की गिनती नहीं होती है वहाँ वर्णों की कुल संख्या ६३ (त्रिषष्टिः) सिद्ध है।

स्वामी दयानन्द ने पाणिनि शिक्षा के चार यमों के रूप में ṽ (ह्रस्व ग्वुं), (दीर्घ ग्वुं), ˇ (अनुनासिक चिह्न) और ळ को माना है, लेकिन इसे सर्वथा मान्यता नहीं मिल पायी क्योंकि 'ळ' में अनुनासिकता का सर्वथा अभाव है।

दुःस्पृष्ट क्या है? इसके उत्तर में गुरुप्रसाद जी ने—'ळकार' को प्रस्तुत किया है। इसे दुःस्पृष्ट इसलिए कहा गया है कि इसके उच्चारण में कठोरतापूर्वक जिह्वा और तालु का संघर्ष होता है। कहीं-कहीं 'ळ' को द्विःस्पृष्ट भी कहा गया है क्योंकि 'ळ' के उच्चारण में जिह्वा के अग्र तथा अन्त में दो बार स्पर्श का अनुभव होता है। ऋक्प्रातिशाख्य में बताया गया है कि दो स्वरों से बीच आये डकार का उच्चारण ळकार और ढकार का उच्चारण ळ्हकार होता है।

द्वयोश्चास्य स्वरयोर्मध्यमेत्य
संपद्यते स डकारो ळकारः।
ळ्हकारतामेति स एव चास्य
ढकारः सन्नूष्मणा संप्रयुक्तः॥

यथा—इळा साळ्हा।

वर्णों का उद्भव

जो वर्ण संख्या में ६३ या ६४ हैं उनकी उत्पत्ति कैसे हुई? यह प्रश्न बड़ा ही गम्भीर है क्योंकि इसकी उत्पत्ति ही गम्भीर स्थानों से गम्भीरता-

पूर्वक हुई है। भगवान् पाणिनि ने संकेत किया कि आत्मा (चेतन तत्त्व) का बुद्धि (ज्ञान तत्त्व) के साथ सम्पर्क होता है और वह अपने अभीष्ट अर्थ को व्यक्त करने की इच्छा से मन को प्रेरित करता है, मन कायाग्नि अर्थात् शारीरिक शक्ति को प्रेरित करता है, जिससे वायु में प्रेरणा उत्पन्न होती है अर्थात् वही कायाग्नि (जठराग्नि) मारुत अर्थात् प्राणवायु को प्रेरित करता है।

"आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥"

कायाग्नि से प्रेरित मारुत यानि प्राणवायु फेफड़ों में गतिशील होकर उसी मन्द्र स्वर को उत्पन्न करता है, जो प्रातःसवन कर्म के साधन रूपी मन्त्रों के उपयोगी तथा गायत्री नामक छन्द से युक्त है;

"मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्।
प्रातःसवनयोगं तं छन्दो गायत्रमाश्रितम् ॥"

वही प्राणवायु जब उरःप्रदेश में संचरण करता हुआ ऊपर उठता है तब कण्ठ-प्रदेश में पहुँचकर मध्यम ध्वनि पैदा करता है, जो मन्द्र से कुछ ऊँची होती है तथा तार स्वर से कुछ नीची। इसी ध्वनि से त्रिष्टुभ् छन्द के तथा माध्यन्दिन सवन (सोमयाग) के सभी मन्त्र पढ़े जाते हैं। तत्पश्चात् वह प्राणवायु कण्ठ-प्रदेश से ऊपर उठता हुआ शिरोभाग में भ्रमण करता हुआ तार स्वर उत्पन्न करता है। इसी स्वर से सन्ध्याकालीन सोमयाग के सभी मन्त्र जगती छन्द में पढ़े जाते हैं। अब चूंकि यह प्राणवायु शिरः प्रदेश से ऊपर जा नहीं सकता है क्योंकि ऊपर जाने के लिए कोई मार्ग (रन्ध्र) रहा ही नहीं। इसीलिए यह मूर्धा से टकराकर लौटकर मुखविवर से बाहर आता है। मुखविवर में ही विभिन्न प्रक्रियाओं के योग से यह प्राणवायु वर्णों के रूप में परिणत होता है।

"कण्ठे माध्यन्दिनयुगं माध्यमं त्रैष्टुभानुगम्।
तारं तार्तीयंसवनं शीर्षण्यं जागतानुगम् ॥

सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः।
वर्णान् जनयते तेषां विभागः पञ्चधा मतः॥

वर्णों की उत्पत्ति की प्रक्रियाएँ वक्ता के भीतर इतनी क्षिप्रतर गति से होती हैं कि वक्ता को पता ही नहीं चलता तब भला श्रोता को इसका पता क्या चलेगा ? जिस प्रकार शतदल को सूई बेधती है और दर्शक को ऐसा प्रतीत होता है कि सारे दल एक साथ ही विंध गये, पृथग्रूपेण दिखाई नहीं पड़ता, उसी प्रकार न तो वक्ता को और न श्रोता को ही वर्णों के उत्पन्न होने की एक-एक प्रक्रिया का पता चलता है बल्कि प्रतीत तो ऐसा होता है कि वर्ण एकबारगी ही उच्चरित हो गये। जबकि वर्णों के उच्चारण में "उत्पलपत्रशतभेदन्याय" से पौर्वापर्य तो रहता ही है। उत्पत्ति की सारी प्रक्रियाओं से बुद्धि क्रमशः विकसित होती हुई वाणी में परिणत होती है, जैसा कि भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में कहा है—

—"अथेदमान्तरं ज्ञानं सूक्ष्मवागात्मना स्थितम्।
व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन विवर्तते॥ १/११३॥

डॉ० रामदेव त्रिपाठी की मान्यता है कि "परा वाणी मूलचक्र में, पश्यन्ती नाभि में तथा मध्यमा हृदय में और वैखरी कण्ठदेश में रहती है। यहाँ मूलचक्र से हृदयप्रदेश तक के स्थान की चर्चा नहीं है, पर इनमें होने वाले आत्मा, बुद्धि और मन के व्यापार का वर्णन कर इन्हीं का संकेत किया है। तत्पश्चात् मध्यमा से वैखरी वाणी की अभिव्यक्ति का यहाँ विशदतर वर्णन है वायु उरस् से कण्ठ, कण्ठ से शिरस् और शिरस् से मुखविवर में आती है यहाँ आकर वह वायु वर्णाकार में परिणत हो जाती है इस प्रकार, वर्णात्मक ध्वनि की अभिव्यक्ति में सहायक मूलचक्र, नाभि, हृदय, कण्ठ, शिरस् तथा मुखविवर इतने स्थान हैं, इनमें वाणी क्रमशः सूक्ष्म से स्थूलतर होती जाती है"।[1]

---

१. "भाषा विज्ञान की भारतीय परम्परा और पाणिनि"—पृ० ७७.

वर्णों का विभाग

पाणिनि के अनुसार वर्णों की संख्या ६३ या ६४ है। उन वर्णों को पाँच भागों में विभक्त किया जा सकता है—

—"वर्णान् जनयते तेषां विभागः पञ्चधा मतः।"

इन पाँच विभागों के लिए भगवान् पाणिनि ने कहा है—
—स्वरतः कालतः स्थानात् प्रयत्नानुप्रदानतः।" अर्थात् (१) स्वर (२) काल (३) स्थान (४) प्रयत्न तथा (५) अनुप्रदान।

१. स्वर—स्वर तीन हैं—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित।

"उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च स्वरास्त्रयः।"

उदात्त उच्च स्वर को कहते हैं—उच्चैरुदात्तः।

अनुदात्त निम्न स्वर को कहते हैं—नीचैरनुदात्तः तथा सम स्वर को स्वरित कहते हैं समाहारः स्वरितः।

इसके अतिरिक्त एक सांगीतिक स्वर हैं जो सात हैं—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद।

ये सप्त स्वर उत्तरोत्तर तारतर हैं। भगवान् पाणिनि ने कहा है कि उदात्त से निषाद और गान्धार विकसित हुए, अनुदात्त से ऋषभ और धैवत तथा स्वरित से षड्ज, मध्यम और पञ्चम विकसित माने जाते हैं—

—"उदात्ते निषादगान्धारावनुदात्त ऋषभधैवतौ।
स्वरितप्रभवा ह्येते षड्जमध्यमपञ्चमाः॥

२. काल—काल की दृष्टि से स्वर तीन प्रकार के हैं—

ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत।

—"ह्रस्वो दीर्घः प्लुत इति कालतो नियमादचि।"

एकमात्रिक ह्रस्व, द्विमात्रिक दीर्घ तथा त्रिमात्रिक प्लुत स्वर हैं—

—एकमात्रो भवेद्ध्रस्वो द्विमात्रो दीर्घ उच्यते ।
त्रिमात्रस्तु प्लुतो ज्ञेयो व्यञ्जनं चार्धमात्रकम् ॥

३. स्थान—वर्णों के ८ स्थान होते हैं, जिन स्थानों से वर्ण उच्चारित होते हैं; जैसे—(१) उरस् (२) कण्ठ (३) शिरस् (मूर्धा), (४) जिह्वामूल (५) दन्त (६) नासिका (७) ओष्ठ तथा (८) तालु ।

अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा ।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च ॥

हकार परिस्थिति विशेष में उरस्य अथवा कण्ठ्य होता है; जैसे—पञ्चम वर्णों अथवा अन्तःस्थ वर्णों के साथ संयुक्त रहने पर यह उरस्य होता है; जैसे—अपराह्ण, बाह्य, ह्लादिनी, आह्लाद आदि उदाहरणों में यह उरस्य है ।

लेकिन हरि, हर आदि स्थितियों में हकार कण्ठ्य है । क्योंकि भगवान् पाणिनि ने तो—

"अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः" के अनुसार अकार, कवर्ग, हकार, विसर्ग को कण्ठ्य कहा है;

हकारं पञ्चमैर्युक्तमन्तःस्थाभिश्च संयुतम् ।
उरस्यं तं विजानीयात् कण्ठ्यमाहुरसंयुतम् ॥"

कण्ठस्थान के बाद भगवान् पाणिनि ने तालु-स्थान से उच्चरित वर्णों की ओर संकेत किया है, जो तालव्य कहलाता है—

"कण्ठ्यावहाविचुयशः तालव्याः" अर्थात् इचुयशः अर्थात् इ, चवर्ग, य तथा शकार तालु से उच्चारित होता है—'इचुयशानां तालु ।' इसी तरह "ओष्ठजावुपू" अर्थात् ओष्ठजो-उपू अर्थात् उकार तथा पवर्ग का उच्चारण-स्थान ओष्ठ है—"उपूपध्मानीयामोष्ठौ ।"

ओष्ठ के बाद मूर्धन् (मूर्धा) से उच्चारित होने वाले वर्ण हैं—ऋ, टवर्ग, र तथा ष—"स्युर्मूर्धन्या ऋटुरषाः" अर्थात् "ऋटुरषाणां मूर्धा ।" तत्पश्चात्

"दन्ताः लृतुलसानां स्मृताः।" कहा गया है—लृ, तवर्ग, ल तथा सकार दन्त से उच्चारित होने के कारण 'दन्त्य' कहलाते हैं—"लृतुलसानां दन्ताः।"

भगवान् पाणिनि की मान्यता है कि कवर्ग का उच्चारण-स्थान कण्ठ है, लेकिन जिह्वामूल के कण्ठसमीपी होने के कारण कवर्ग का उच्चारण-स्थान जिह्वामूल भी है। कौमुदीकार ≍क ≍ख ≍ग को ही जिह्वामूलीय मानते हैं। वकार का उच्चारण स्थान दन्त और ओष्ठ दोनों हैं। ए-ऐ का उच्चारण-स्थान कण्ठ-तालु तथा ओ-औ का उच्चारण स्थान कण्ठ-ओष्ठ दोनों माना गया है—

"जिह्वामूले तु कुः प्रोक्तो दन्त्योष्ठ्यो वः स्मृतो बुधैः।
ए ऐ तु कण्ठतालव्यौ ओ औ कण्ठोष्ठजौ स्मृतौ॥"

अनुस्वार तथा यम वर्णों का उच्चारण स्थान नासिका है—

"अनुस्वारयमानां च नासिकास्थानमुच्यते।"

लेकिन अयोगवाह अपने आश्रय के स्थान वाले होते हैं—

"अयोगवाहा विज्ञेया आश्रयस्थानभागिनः।"

पाणिनि ने प्रयत्न की दृष्टि से भी बाह्य प्रयत्न तथा आभ्यन्तर प्रयत्न पर विशद रूप से स्पष्ट प्रकाश डाला है। इतना ही नहीं, इनका 'यम', रङ्ग, कम्प भी कम अद्भुत नहीं, जिनकी व्याख्या यथास्थान हुई है।

पाणिनि मुख्य रूप से ध्वनिशास्त्री हैं, इसीलिए उन्होंने वर्णों के सम्यक् उच्चारण पर बल दिया है। क्योंकि "सब" के स्थान में शव, शूर/सूर/सुर/सूर, दिन/दीन, कूल/कुल में स्वर, वर्ण-भेद से अर्थभेद हो जाता है, इसीलिए हमें स्व/श्व के भेद को स्पष्ट स्वर तथा वर्ण के उच्चारण से दिखाना चाहिये अन्यथा वही वर्ण-दोष, स्वर-दोष वज्र होकर हमारा नाश कर देता है। इसीलिए हमें वर्णों का उच्चारण ऐसे करना चाहिये कि हम दोषमुक्त रह सकें। हमें दूषित-प्रयोग से होने वाली हानि का सामना न करना पड़े, इसके लिए भी

भगवान् पाणिनि ने इस शिक्षा में विविधोपाय सुझाये हैं। वर्णों का उच्चारण कैसे करें, इसपर दृष्टान्त द्वारा बतलाया है कि जिस प्रकार बाघिन पुत्रों को गिरने और छेद के भय से डरी हुई दाढ़ों से ले जाती है और पीड़ित नहीं करती, उसी प्रकार वर्णों का उच्चारण करना चाहिये—

"व्याघ्री यथा हरेत् पुत्रान् दंष्ट्राभ्यां न च पीडयेत्।
भीता पतनभेदाभ्यां तद्वद् वर्णान् प्रयोजयेत्॥"

वर्णों का उच्चारण अव्यक्त और पीडित नहीं करना चाहिये। वर्णों का सम्यक् उच्चारयिता ब्रह्मलोक में पूजित होता है—

"एवं वर्णाः प्रयोक्तव्याः नाव्यक्ता न च पीडिताः।
सम्यग्वर्णप्रयोगेण ब्रह्मलोके महीयते॥"

गुनगुनाते हुए पढ़ने वाला, क्षिप्रतर गति से पढ़ने वाला, सिर हिला-हिलाकर पढ़ने वाला, ठीक जैसा पुस्तक में लिखा हुआ है, वैसा ही बिना उपयुक्त आरोह-अवरोह के पढ़ने वाला, बिना अर्थ समझे ही पढ़ने वाला तथा फँसे गले से पढ़ने वाला—ऐसे पाठक अधम माने जाते हैं;

"गीती शीघ्री शिरःकम्पी यथालिखितपाठकः।
अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाधमाः॥"

पाठक के पाठ में मधुरता, सुस्पष्टता, पदच्छेदता, सुस्वरता, धीरजता ६. लयसमर्थता आवश्यक है;

"माधुर्यमक्षरव्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः।
धैर्यं लयसमर्थं च षडेते पाठके गुणाः॥"

भगवान् पाणिनि ने तो उच्चारणकर्ता के लिए निम्नलिखित दोषों को परिहार्य माना है।

सन्दिग्धता, भययुक्तता, उच्चध्वनियुक्तता, अस्पष्टता, अनुनासिकता, कर्कशता, मूर्धायुक्तता, अस्त्राभाविकता, मन्दस्वरता, दन्तपीडितता, शीघ्रता, निरस्तता,

विलम्बितता, हकलाहट, प्रगीत, पीडित, पदाक्षर को ग्रस्त करके, अनुत्साहित होकर तथा नाक से वर्णोच्चारण का निषेध किया गया है ।[१]

भगवान् पाणिनि ने मनुष्य की ध्वनियों का तो विश्लेषण किया ही, पक्षियों की ध्वनियों का भी सूक्ष्मता से विश्लेषण किया है—

"चाषस्तु वदते मात्रां द्विमात्रं चैव वायसः ।
शिखी रौति त्रिमात्रन्तु नकुलस्त्वर्धमात्रकम् ॥"

अर्थात् चाष (नीलकण्ठ) की ध्वनि एकमात्रिक, कौवे की द्विमात्रिक, मयूर की त्रिमात्रिक तथा नकुल की अर्धमात्रिक होती है ।

संस्कृत के ध्वनि-विज्ञान से ही पश्चिम के भाषावैज्ञानिकों ने अपने यहाँ ध्वनिविज्ञान के बहुत-से पारिभाषिक शब्द तथा विभाग-निर्धारण लिये हैं । डब्ल्यू० एस० एलेन ने कहा है —

(Our phonetic Categories and termin ology owe more than is perhaps qenerally realised to the influence of Sanskrit Phoneticians.)—[२]

ब्लूमफील्ड ने "Language" में कहा है—

For no language of the past have we a record Comparable to Panini's record of his mother tongue nor is it likely that any language Spoken to day will be so prfectly recorded. (Page–270)

"पाणिनीय शिक्षा" की यह हिन्दी-व्याख्या एम० ए० भाषा विज्ञान के अनुसन्धित्सुओं की नैक समस्याओं का समाधान है । सचमुच पाणिनीय शिक्षा ध्वनि विज्ञान की मुकम्मल और प्राचीनतम पुस्तक है । सर्वप्रथम मैं उन लेखकों का शुक्रगुजार हूँ जिनकी पुस्तकों से मुझे अपार सहायता मिली है; खासकर मैं डॉ० रामदेव त्रिपाठी के प्रति नतमस्तक हूँ जिनकी पुस्तक "भाषाविज्ञान की

---

१. पाणिनीय शिक्षा–३४–३५.

२. Phoneics in Ancient India–P. 3.

भारतीय परम्परा और पाणिनि" से उपकृत हुआ हूँ और पदे-पदे पुस्तक रूप में डॉ० त्रिपाठी को सामने रखकर निर्देशित भी होता रहा हूँ। मैं ऋणी हूँ डॉ० ब्रह्मचारी सुरेन्द्र कुमार (आचार्य एवम् अध्यक्ष, बिहार विश्वविद्यालय) तथा डॉ० अयोध्या प्रसाद सिंह (आचार्य एवम् अध्यक्ष, राँची विश्वविद्यालय) का, जिन्होंने हमें इसके लेखन में समय-समय पर उकेरा और उत्प्रेरित किया। मैं गुरुकल्प वेदमूर्ति डॉ० बीरेन्द्रकुमार वर्मा (आचार्य एवम् अध्यक्ष, बी० एच० यू० वाराणसी) के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिन्होंने अतुल स्नेह से मेरे उत्साह एवं ज्ञान को सींचा। मैं डॉ० कलानाथ झा का भी ऋणी हूँ जिन्होंने मुझे 'पाणिनीय शिक्षा' के अध्यापन का सुअवसर प्रदान किया। प्रस्तुत पुस्तक को कामिल करने में मैं जिनसे विशेषरूप से प्रेरणा पाता रहा उन अग्रजदेव डॉ० रामदेव प्रसाद, पटना विश्वविद्यालय के प्रति हार्दिक आभार ज्ञापित करता हूँ तथा प्रियतर शिष्य 'शङ्कर' भी धन्यवादार्ह है, जिसने इसके लेखन के लिए आग्रह ही नहीं किया बल्कि सुन्दर अक्षरों में इसकी पाण्डुलिपि भी तैयार की। अन्ततः प्रियसखी अनिता सागर (फारसी ऑनर्स) को भी हार्दिक धन्यवाद देता हूँ जिसने इसके लेखन में मुझे सारी सुविधाएँ प्रदान की और मेरी हौसला अफ़जाई की।

एक बार मैं पुनः मोतीलाल बनारसीदास पटना के व्यवस्थापक श्री कमला बाबू के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करना अपना पुनीत कर्तव्य समझता हूँ जिन्होंने मुझे पुस्तकें लिखने की ओर सतत प्रयत्नशील रखा।

पता नहीं, इस 'शिक्षा' की व्याख्या का स्वाद मेरे विद्वान् पाठकों को कैसा लगा? तथ्यों में मिठास महसूसना—यह उनका बड़प्पन है तथा ज्ञान की अल्पता मेरी कमजोरी। मैं अमूल्य सुझावों द्वारा कृतार्थ करने वाले विद्वान् पाठकों का सदा ही ऋणी रहूँगा।

"भगवतः पाणिनेराचार्यस्य सिद्धम्।"

—दामोदर महतो

'सागर'
न्यू पी० जी० प्रोफेसर कॉलोनी
पटेल नगर, भागलपुर–७

विजयादशमी (२०४६)
१० अक्टूबर १९८९

॥ ॐ ॥

पाणिनीय-शिक्षा

अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि पाणिनीयं मतं यथा ।
शास्त्रानुपूर्व्यं तद्विद्याद्यथोक्तं लोकवेदयोः ॥ १ ॥

अन्वय—अथ पाणिनीयं मतं यथा शिक्षां प्रवक्ष्यामि । तत् शास्त्रानुपूर्व्यं लोकवेदयोः यथोक्तं विद्यात् ।

शब्दार्थ—अथ = इसके बाद (अब), पाणिनीयम् = पाणिनि प्रोक्त, शिक्षाम् = शिक्षा को (शिक्षा नामक वेदांग को), प्रवक्ष्यामि = प्रकृष्ट रूप से कहूँगा, यथा = जैसे, मतम् = मत को, विचार को, तत् + विद्यात् + यथा + उक्तम्, तत् = उस मत को, विद्यात् = जानें, यथोक्तम् = जैसा कहा गया है, शास्त्रानुपूर्व्यम् = (शास्त्र + आनुपूर्व्यम्), शास्त्रोपदेष्टाओं (शास्त्र प्रवर्तक गुरु परम्परा) से प्राप्त, लोकवेदयोः = लोक और वेद में (सप्तमी द्विवचन) ।

हिन्दी—अब मैं पाणिनिप्रोक्त मतों के जैसा 'शिक्षा' (नामक वेदांग) को प्रकृष्ट रूप से कहूँगा । उस (पाणिनीय मत) को शास्त्रोपदेष्टृपरम्परा से प्राप्त लोक और वेद में जैसा कहा गया है, वैसा जानें ।

व्याख्या—यहाँ 'अथ' का अर्थ रुद्रप्रसाद अवस्थी ने 'आनन्तर्य' किया है । ऐसा इसलिए कि प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रारब्धि शिष्य-जिज्ञासा के शमनार्थ गुरु ने की होगी । अतएव शिष्य के द्वारा पूछे गये प्रश्नों के उत्तर में गुरु ने पाणिनि सम्मत शिक्षा का प्रवचन किया है । ऐसे 'अथ' शब्द मङ्गलार्थ भी प्रयुक्त होता है । शाङ्करभाष्य में कहा गया है—

"अर्थान्तरप्रयुक्त एव ह्यथशब्दः श्रुत्या मङ्गलप्रयोजनो भवतीति ।"

व्याख्या—व्याकरण शास्त्र के प्रथम प्रवक्ता ब्रह्मा माने जाते हैं, जिन्होंने बृहस्पति को शब्दोपदेश किया था।[१] व्याकरण शास्त्र में दो सम्प्रदाय—ऐन्द्र तथा माहेश्वर प्रसिद्ध हैं। कातन्त्र व्याकरण ऐन्द्र सम्प्रदाय का और पाणिनीय व्याकरण शैव (माहेश्वर) सम्प्रदाय का माना जाता है।[२] इसी शैव सम्प्रदाय में मान्यता प्राप्त ६३ या ६४ वर्ण हैं, जिसे ब्रह्मा ने भी स्वीकार किया है। आचार्य मीमांसक प्राकृत तथा संस्कृत दोनों को अलग-अलग भाषा मानते हैं और संस्कृत को मूल तथा प्राकृत को उससे परवर्ती विकृत भाषा स्वीकारते हैं। हेमचन्द्र ने भी स्वीकार किया है—प्रकृतिः संस्कृतम्; तत्र भवं, तत आगतं वा प्राकृतम्।[3] दूसरा मत है कि प्राकृत का ही संस्कार कर संस्कृत का निर्माण हुआ। इसकी पुष्टि स्वयं संस्कृत शब्द से होती है। जिसका संस्कार हुआ हो, वह संस्कृत। इस मत के समर्थक कहते हैं—"प्रकृत्या स्वभावेन सिद्धं प्राकृतम्" अर्थात् जो स्वभाव-सिद्ध हो, वह प्राकृत है।[४]

कुछ लोग कहते हैं कि दोनों का पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र रूप में विकास हुआ। संस्कृत के समानान्तर जो जनभाषाएँ थीं, उन्हीं का विकसित रूप प्राकृतें हैं।[५]

पं० अवस्थी ने संस्कृत को ही मातृभाषा स्वीकार किया है, जो पुराकाल में व्यापक रूप से फैली थी। प्राकृत आदि भाषाएँ संस्कृत से ही उत्पन्न हैं, ऐसा स्वीकार किया है[६] ॥ ३ ॥

स्वरा विंशतिरेकश्च स्पर्शानां पञ्चविंशतिः ।
यादयश्च स्मृता ह्यष्टौ चत्वारश्च यमाः स्मृताः ॥ ४ ॥
अनुस्वारो विसर्गश्च ≍क ≍पौ चापि पराश्रितौ ।
दुःस्पृष्टश्चेति विज्ञेयो ऌकारः प्लुत एव च ॥ ५ ॥

---

१. व्याकरण शास्त्र का इतिहास–पृ० २७।
२. वही–पृ० २९।
३. वही–पृ० १३।
४. भाषा विज्ञान की भूमिका–पृ० १२८।
५. वही–पृ० १२८।
६. पाणिनीय शिक्षा–पृ० ३।

अर्थात् स्वर 'अ' के बाद '·' चिह्न अनुस्वार कहलाता है जो हमेशा स्वर के अनन्तर होता है।

विसर्ग—विसृज्यते वाक्यम् अनेन इति विसर्गः।

अर्थात् जिसके द्वारा वाक्य की विशेष रूप से सर्जना की जाती है उसे विसर्ग कहते हैं अथवा जो श, ष, स आदि आदेश रूपों से विविधता की सर्जना करता है उसे विसर्ग कहते हैं; जैसे—अः। यहाँ स्वर 'अ' के बाद बगल में स्थित बिन्दु द्वय (:) को विसर्ग कहते हैं।

जिह्वामूलीय—⌅ क ⌅ख इति कखाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदृशो जिह्वामूलीयः।

अर्थात् ककार और खकार से पूर्व अर्धविसर्गसदृश ध्वनि जिह्वामूलीय कहलाती है।

उपध्मानीय—⌅प⌅फ इति पफाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदृश उपध्मानीयः

अर्थात् पकार और फकार से पूर्व अर्धविसर्गसदृश ध्वनि उपध्मानीय कहलाती है। अर्थात् जिह्वामूलीय और उपध्मानीय आधे विसर्ग के सदृश होते हैं।[1]

दुःस्पृष्ट—दो स्वरों के बीच आये डकार का उच्चारण ळकार और ढकार का ळ्हकार होता है। इसे ही ऋग्वेद प्रातिशाख्य में कहा गया है—

द्वयोश्चास्य स्वरयोर्मध्यमेत्य संपद्यते स डकारो ळकारः।
ळ्हकारतामेति स एव चास्य ढकारः सन्नूष्मणा संप्रयुक्तः॥ १।५२

यथा—इळा, साळ्हा।

"अग्निमीळे पुरोहितम्" (अग्निसूक्त १-१-१)
मरुद्भिरुग्रः पृतनासु साळ्हा" (ऋ. १-५६-२३)

उपर्युक्त ळकार और ळ्हकार ही दुःस्पृष्ट कहलाते हैं॥ ४-५॥

---

१. लघुसिद्धान्त कौमुदी—पृ० १०.

You have either reached a page that is unavailable for viewing or reached your viewing limit for this book.

'अग्नि' और वर्ण 'श्वेत' हैं। गायत्री शब्द से 'तस्येदम्' (अष्टा० ४-३-१२०) सूत्र से अण् प्रत्यय होकर 'गायत्रम्' बनता है।

'सवन' का अर्थ होता है—यज्ञ, स्नान। 'प्रातःसवनम्' का अर्थ वामन शिवराम आप्टे ने 'सोमयाग द्वारा प्रातःकालीन तर्पण' किया है। मोनियर विलियम्स ने भी इसका अर्थ—'Libatin of Soma' कहा है।

मारुतः—मरुति भवः इस अर्थ में मरुत् शब्द से 'अण्' प्रत्यय होकर 'मारुतः' बना जिसका अर्थ 'वायु' है।

इस तरह उरः स्थानीय मन्द्रस्वर—गायत्र

कण्ठ स्थानीय मध्यम स्वर—त्रैष्टुभ्

शिरस् स्थानीय तार स्वर—जागत कहलाये, जो नारदीय शिक्षा से भी स्पष्ट है ॥ ७ ॥

कण्ठे माध्यन्दिनयुगं मध्यमं त्रैष्टुभानुगम्।
तारं तार्तीयसवनं शीर्षण्यं जागतानुगम् ॥ ८ ॥

अन्वय—कण्ठे त्रैष्टुभानुगं माध्यन्दिनयुगं मध्यमं, शीर्षण्यं जागतानुगं तार्तीयसवनं तारम्।

शब्दार्थ—कण्ठे = कण्ठ प्रदेश में, माध्यन्दिनयुगम् = माध्यन्दिन सवन कर्म साधनमन्त्रोपयोगी, मध्यमम् = मध्यम (न मन्द्र और न तार), त्रैष्टुभानुगम् = त्रिष्टुभ छन्द में रचा गया मन्त्र, तारम् = उच्चैस्तर स्वर, तार्तीयसवनम् = तृतीय सवन अर्थात् सन्ध्या सवन कर्म साधन मन्त्रपयोगी, शीर्षण्यम्—शिरः प्रदेश में संचरित वायु, जागतानुगम् = जगती छन्द में रचा गया मन्त्र।

यहाँ पूर्व श्लोक सूत्र से 'मारुतः' 'जनयति स्वरम्' आदि पदों की अनुवृत्ति करने से अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

हिन्दी—प्राणवायु (मारुत) कण्ठ प्रदेश में संचरण करता हुआ त्रिष्टुभ छन्दों में रचित माध्यन्दिन सवन कर्म के साधनभूत मन्त्रों के उपयोगी मध्यम स्वर को उत्पन्न करता है जो शिरः प्रदेश में पहुँचकर गतिशील होता हुआ तार

You have either reached a page that is unavailable for viewing or reached your viewing limit for this book.

You have either reached a page that is unavailable for viewing or reached your viewing limit for this book.

You have either reached a page that is unavailable for viewing or reached your viewing limit for this book.

You have either reached a page that is unavailable for viewing or reached your viewing limit for this book.

२१. लोमश शिक्षा

२२. वाक्यपदीय

चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी।

२३. वैदिक स्वरबोध

ब्रजबिहारी चौबे, प्रकाशक—वैदिक साहित्य सदन, बहादुरपुर चौक होशियारपुर (पञ्जाब), प्रथम संस्करण–१९७२।

२४. संस्कृत-हिन्दी-कोश

वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसीदास, पटना (१९६९)।

२५. संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास

आचार्य श्री युधिष्ठिर मीमांसक (अनु०—रामनाथ त्रिपाठी शास्त्री) प्रकाशक—चौखम्बा ओरियण्टालिया, गोकुल भवन, के० ३७/१०९, गोपाल मन्दिर लेन, वाराणसी–१ (१९८३)।

२६. स्वरवैदिक प्रश्नोत्तरी

श्री विश्वेश्वर झा, प्रकाशक—जयकृष्णदास-हरिदास गुप्त, चौखम्बा संस्कृत सीरिज ऑफिस, विद्याविलास प्रेस, बनारस, सं० २००९, द्वि०सं० १९५२।

२७. हिन्दी ऋग्वेद भाष्य भूमिका

जगन्नाथ पाठक, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी–१, १९६८।